कुंवर नारायण

अपने सामने

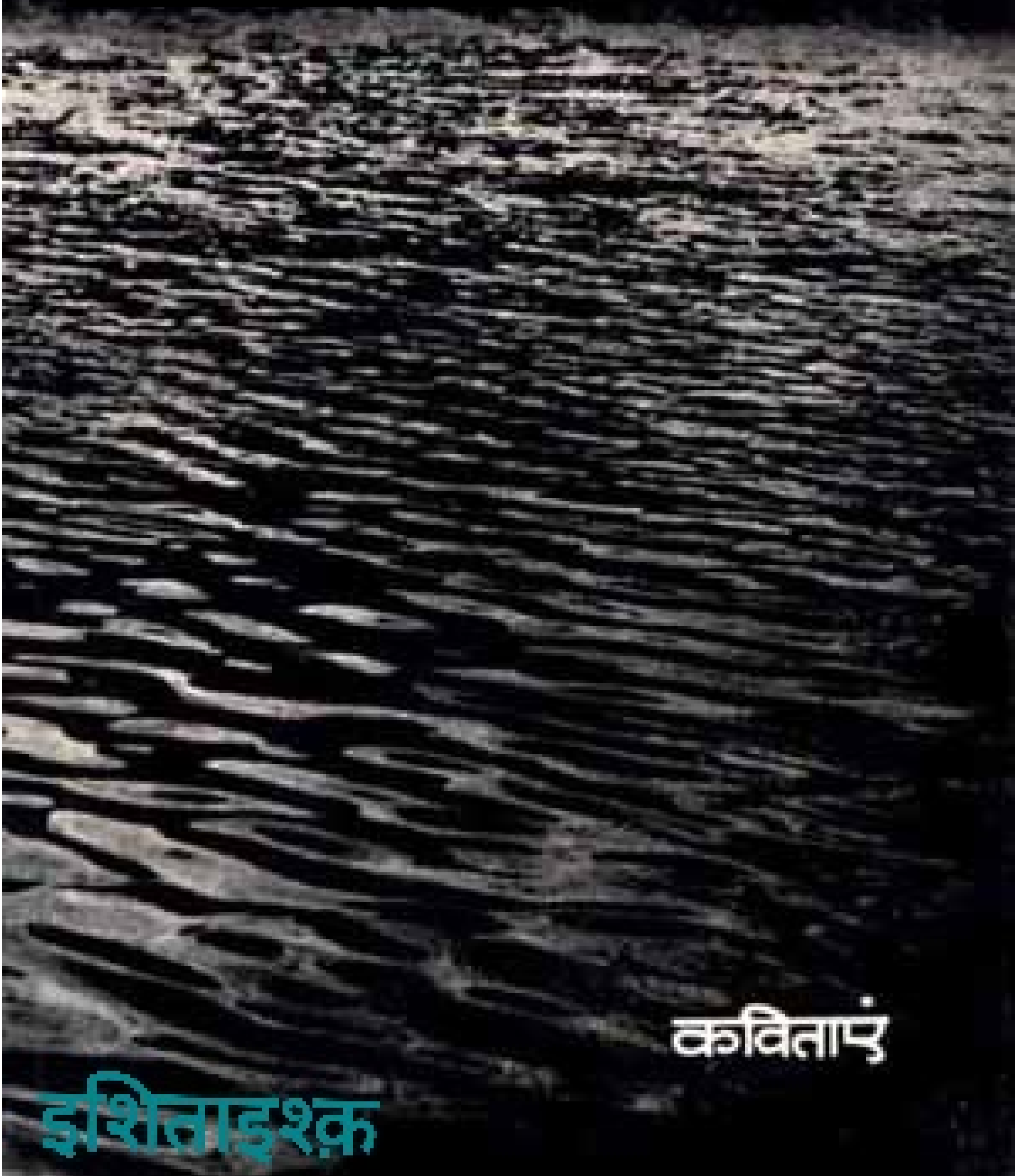

कविताएं

इंडिया इंक़

एक

अंतिम ऊँचाई

कितना स्पष्ट होता आगे बढ़ते जाने का मतलब
अगर दसों दिशाएँ हमारे सामने होतीं
हमारे चारो ओर नहीं।
कितना आसान होता चलते चले जाना
यदि केवल हम चलते होते
बाक़ी सब रुका होता।

मैंने अक्सर इस ऊल-जुलूल दुनिया को
दस सिरों से सोचने और बीस हाथों से पाने की कोशिश में
अपने लिए बेहद मुश्किल बना लिया है।

शुरू-शुरू में सब यही चाहते हैं
कि सब कुछ शुरू से शुरू हो,
लेकिन अंत तक पहुँचते पहुँचते हिम्मत हार जाते हैं
हमें कोई दिलचस्पी नहीं रहती
कि वह सब कैसे समाप्त होता है
जो इतनी धूमधाम से शुरू हुआ था
हमारे चाहने पर।

दुर्गम वनों और ऊँचे पर्वतों को जीतते हुए
जब तुम अंतिम ऊँचाई को भी जीत लोगे –
तब तुम्हें लगेगा कि कोई अंतर नहीं बचा अब
तुममें और उन पत्थरों की कठोरता में
जिन्हें तुमने जीता है –

जब तुम अपने मस्तक पर बर्फ का पहला तूफ़ान झेलोगे
और कांपोगे नहीं –
तब तुम पाओगे कि कोई फ़र्क़ नहीं
सब कुछ जीत लेने में
और अंत तक हिम्मत न हारने में।

समुद्र की मछली

बस वहीं से लौट आया हूँ हमेशा
अपने को अधूरा छोड़कर
जहां झूठ है, अन्याय, है, कायरता है, मूर्खता है-
प्रत्येक वाक्य को बीच ही में तोड़-मरोड़कर,
प्रत्येक शब्द को अकेला छोड़कर,
वापस अपनी ही बेमुरौवत्त पीड़ा के
एकांगी अनुशासन में
किसी तरह पुनः आरंभ होने के लिए।

अखबारी अक्षरों के बीच छपे
अनेक चेहरों में एक फक् चेहरा
अपराधी की तरह पकड़ा जाता रहा बार-बार
अद्भुत कुछ जीने की चोर-कोशिश में :
लेकिन हर सजा के बाद वह कुछ और पोढ़ा होता गया,
वहीं से उगता रहा जहाँ से तोड़ा गया,
उसी बेरहम दुनिया की गड़बड़ रौनक में
गुंजायश ढूँढता रहा बेहयाई से जीने की। किसी तरह
बची उम्र खींचकर दोहरा ले
एक से दो और दो से कई गुना या फिर
घेरकर अपने को किसी नए विस्तार से

इतना छोटा कर ले जैसे मछली
और इस तरह शुरू हो फिर कोई दूसरा समुद्र...

आपद्धर्म

कभी तुमने कविता की ऊँचाई से
देखा है शहर?
अच्छे-भले रंगों के नुकसान के वक़्त
जब सूरज उगल देता है रक्त।

बिजली के सहारे रात
स्पन्दित एक घाव स्याह बक्तर पर।
जब भागने लगता एक पूँछदार सपना
आँखों से निकलकर
शानदार मोटरों के पीछे। वह आती है
घर की दूरी से होटल की निकटता तक
लेकिन मुझे तैयार पाकर लौट जाती है
मेरा ध्यान भटकाकर उस अँधेरे की ओर
जो रोशनी के आविष्कार से पहले था।

उसकी देह के लचकते मोड़,
बेहाल सड़कों से होकर अभी गुज़रे हैं
कुछ गए-गुज़रे देहाती ख्याल, जैसे
पनघट, गोरी, बिन्दिया बगैरह
और इसी अहसास को मैंने
अक्सर इस्तेमाल से बचाकर
रहने दिया कविता की ऊँचाई पर,
और बदले में मोम की किसी
सजी बनी गुड़िया को
बाहों में पिघलने दिया।

जलते-बुझते नीऑन-पोस्टरों की तरह
यह सधी-समझी प्रसन्नता!
सोचता हूँ।
इस शहर और मेरे बीच
किसकी ज़रूरत बेशर्म है?-
एक ओर हर सुख की व्यवस्था,
दूसरी ओर प्यार आपद्धर्म है।

जब आदमी-आदमी नहीं रह पाता

दरअसल मैं वह आदमी नहीं हूँ जिसे आपने
ज़मीन पर छटपटाते हुए देखा था।
आपने मुझे भागते हुए देखा होगा
दर्द से हमदर्द की ओर।
वक़्त बुरा हो तो आदमी आदमी नहीं रह पाता। वह भी
मेरी ही और आपकी तरह आदमी रहा होगा। लेकिन
आपको यक़ीन दिलाता हूँ
वह जो मेरा कोई नहीं था, जिसे आपने भी
अँधेरे में मदद के लिए चिल्ला-चिल्लाकर
दम तोड़ते सुना था।
शायद उसी मुश्किल वक़्त में
जब मैं एक डरे हुए जानवर की तरह
उसे अकेला छोड़कर बच निकला था ख़तरे से सुरक्षा की ओर,
वह एक फंसे हुए जानवर की तरह
खूँख्वार हो गया था।

बंधा शिकार

कुछ ठहर-सा गया है मेरे बिल्कुल पास,
मुझे सुँघता हुआ।
किसी भी क्षण
आक्रमण कर सकनेवाली
एक बर्बर ताक़त। वह
क्या चाहता है?

क्या है मेरे पास
उसको देने लायक
जिसे उसकी तरफ फेंककर
अपने को बचा लूं?

वह अपनी खुरदुरी देह को रगड़ता है
मेरी देह से जो अकड़कर वृक्ष हो गई है।
कह कुछ दूर जाकर रुक गया है।
उसे कोई जल्दी नहीं।
वह जानता है कि मैं बंधा हूँ
और वह एक खुला शिकारी है।

एक अजीब दिन

आज सारे दिन बाहर घूमता रहा
और कोई दुर्घटना नहीं हुई।
आज सारे दिन लोगों से मिलता रहा
और कहीं अपमानित नहीं हुआ।
आज सारे दिन सच बोलता रहा
और किसी ने बुरा न माना।
आज सबका यकीन किया
और कहीं धोखा नहीं खाया।

और सबसे बड़ा चमत्कार तो यह
कि घर लौटकर मैंने किसी और को नहीं
अपने ही को लौटा हुआ पाया।

एक अदद कविता

जैसे एक जंगली फूल की आकस्मिकता
मुझमें कौंधकर मुझसे अलग हो गई हो कविता

और मैं छूट गया हूं कहीं
जहन् नुम के ख़िलाफ़
एक अदद जुलूस
एक अदद हड़ताल
एक अदद नारा
एक अदद वोट
और अपने को अपने ही
देश की जेब में सम् भाले
एक अवमूल्यित नोट

सोचता हुआ कि प्रभो
अब कौन किसे किस-किसके नरक से निकाले

इन्तिज़ाम

कल फिर एक हत्या हुई
अजीब परिस्थितियों में।

मैं अस्पताल गया
लेकिन वह जगह अस्पताल नहीं थी।
वहाँ मैं डॉक्टर से मिला
लेकिन वह आदमी डॉक्टर नहीं था।
उसने नर्स से कुछ कहा
लेकिन वह स्त्री नर्स नहीं थी।
फिर वे ऑपरेशन-रूम में गए
लेकिन वह जगह ऑपरेशन-रूम नहीं थी।
वहां बेहोश करनेवाला डॉक्टर
पहले ही से मौजूद था-मगर वह भी
दरअसल कोई और था।

फिर वहाँ एक अधमरा बच्चा लाया गया
जो बीमार नहीं, भूखा था।

डॉक्टर ने मेज़ पर से
ऑपरेशन का चाकू उठाया
मगर वह चाकू नहीं
ज़ंग लगा भयानक छुरा था।
छुरे को बच्चे के पेट में भोंकते हुए उसने कहा
अब यह बिल्कुल ठीक हो जाएगा।

आदमी अध्यवसायी था

'आदमी अध्यवसायी था' अगर
इतने ही की जयन्ती मनाकर
सी दी गई उसकी दृष्टि
उसके ही स्वप्न की जड़ों से। न उगने पाई
उसकी कोशिशें। बेलोच पत्थरों के मुक़ाबले
कटकर रह गए उसके हाथ

सो कौन संस्कार देगा
उन सारे औज़ारों को
जो पत्थरों से ज्यादा उसको तराशते रहे।
चोटें जिनकी पाशविक खरोंच और घावों को
अपने ऊपर झेलता
और वापस करता विनम्र कर
ताकि एक रूखी कठोरता की
भीतरी सुन्दरता किसी तरह बाहर आए।

उसको छूती आँखों का अधैर्य कि वह पारस क्यों नहीं
जो छूते ही चीज़ों को सोना कर दे? क्‍ यों खोजना पड़ता है
मिथकों में, वक्रोक्तियों में, श्लेषों में, रूपकों में
झूठ के उल्टी तरफ़ क्‍ यों इतना रास्ता चलना पड़ता है
एक साधारण सच्चाई तक भी पहुँच पाने के लिए?

अपने बजाय

रफ़्तार से जीते
दशकों की लीलाप्रद दूरी को लाघंते हुए : या
एक ही कमरे में उड़ते-टूटते लथपथ

दीवारों के बीच
अपने को रोककर सोचता जब

तेज़ से तेज़तर के बीच समय में
किसी दुनियादार आदमी की दुनिया से
हटाकर ध्यान
किसी ध्यान देनेवाली बात को,
तब ज़रूरी लगता है ज़िन्दा रखना
उस नैतिक अकेलेपन को
जिसमें बन्द होकर
प्रार्थना की जाती है
या अपने से सच कहा जाता है
अपने से भागते रहने के बजाय।
मैं जानता हूँ किसी को कानोंकान खबर
न होगी
यदि टूट जाने दूं उस नाजुक रिश्ते को
जिसने मुझे मेरी ही गवाही से बाँध रखा है,
और किसी बातूनी मौके का फ़ायदा उठाकर
उस बहस में लग जाऊँ
जिसमें व्यक्ति अपनी सारी जिम्मेदारियों से छूटकर
अपना वकील बन जाता है।

तुम मेरे हर तरफ़

और तुम मेरे हर तरफ़
हर वक़्त
इतनी मौजूद :
मेरी दुनिया में
तुम्हारा बराबर आना-जाना

फिर भी ठीक से पहचान में न आना
कि कह सकूं
देखो, यह रही मेरी पहचान
मेरी अपनी बिल्कुल अपनी
सबसे पहलेवाली
या सबसे बादवाली
किसी भी चीज़ की तरह
बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित।
अब उसे चित्रित करते मेरी उँगलियों के बीच से
निचुड़कर बह जाते दृश्यों के रंग,
लोगों और चीज़ों के वर्णन
भाषा के बीच की खाली जगहों में गिर जाते।
ठहरे पानी के गहरे हुबाब में
एक परछाईं एक परत और सिकुड़ती।
शाम के अंधेरे ठण्डे हाथ।
मेरे कन्धों पर बर्फ़ की तरह ठण्डे हाथ
मुझे महसूस करते हैं।

सतहें

सतहें इतनी सतही नहीं होती
न वजहें इतनी वजही
न स्पष्ट इतना स्पष्ट ही
कि सतह को मान लिया जाए काग़ज़
और हाथ को कहा जाए हाथ ही।

जितनी जगह में दिखता है एक हाथ
उसका क्या रिश्ता है उस बाक़ी जगह से

जिसमें कुछ नहीं दिखता है?
क्या वह हाथ
जो लिख रहा
उतना ही है
जितना दिख रहा?
या उसके पीछे एक और हाथ भी है
उसे लिखने के लिए बाध्य करता हुआ?

बाक़ी कविता

पत्तों पर पानी गिरने का अर्थ
पानी पर पत्ते गिरने के अर्थ से भिन्न है।

जीवन को पूरी तरह पाने
और पूरी तरह दे जाने के बीच
एक पूरा मृत्यु-चिह्न है।

बाक़ी कविता
शब्दों से नहीं लिखी जाती,
पूरे अस्तित्व को खींचकर एक विराम की तरह
कहीं भी छोड़ दी जाती है...

दो

लगभग दस बजे रोज़

लगभग दस बजे रोज़
वही घटना
फिर घटती है।
वही लोग
उसी तरह
अपने बीवी-बच्चों को अकेला छोड़कर
घरों से बाहर निकल आते हैं। मगर
भूकम्प नहीं आता।

शाम होते-होते
वही लोग
उन्हीं घरों में
वापस लौट आते हैं,
शामत के मारे
थके-हारे।

मैं जानता हूँ
भूकम्प इस तरह नहीं आएगा। इस तरह
कुछ नहीं होगा।
वे लोग किसी और वजह से डरे हुए हैं।
ये सब बार-बार
उसी एक पहुँचे हुए नतीजे पर पहुँचकर
रह जाएँगे कि झूठ एक कला है, और
हर आदमी कलाकार है जो यथार्थ को नहीं
अपने यथार्थ को

कोई न कोई अर्थ देने की कोशिश यें पागल है!

कभी-कभी शाम को घर लौटते समय
मेरे मन में एक अमूर्त कला के भयानक सकेत
आसमान से फट पड़ते हैं-जैसे किसी ने
तमाम बदरंग लोगों और चीज़ों को इकट्ठा पीसकर
किसी सपाट जगह पर लीप दिया हो
और रक्त के सरासर जोखिम के विरुद्ध
आदमी के तमाम दबे हुए रंग
खुद-ब-खुद उभर आए हों।

विभक्त व्यक्तित्व ?

(मुक्तिबोध के निधन पर)

वह थक कर बैठ गया जिस जगह
वह न पहली, न अन्तिम,
न नीचे, न ऊपर,
न यहाँ, न वहाँ...

कभी लगता-एक कदम आगे सफलता।
कभी लगता-पाँवों के आसपास जल भरता।

सोचता हूँ उससे विदा ले लूँ
वह जो बुरा-सा चिन्तामग्न हिलता न डुलता।
वह शायद अन्य है क्योंकि अन्यतम है।

वैसे जीना किस जीने से कम है

जबकि वह कहीं से भी अपने को लौटा ले सकता था
शिखर से साधारण तक,
शब्दों के अर्थजाल से केवल उनके उच्चारण तक।

सिद्धि के रास्ते जब दुनिया घटती
और व्यक्ति बढ़ता है,
कितनी अजीब तरह
अपने-आपसे अलग होना पड़ता है।

लखनऊ

किसी नौजवान के जवान तरीक़ों पर त्योरियाँ चढ़ाए
एक टूटी आरामकुर्सी पर
अधलेटे
अधमरे बूढ़े-सा खाँसता हुआ लखनऊ।
कॉफ़ी-हाउस, हज़रतगंज, अमीनाबाद और चौक तक
चार तहज़ीबों में बंटा हुआ लखनऊ।

बिना बात बात-बात पर बहस करते हुए-
एक-दूसरे से ऊबे हुए मगर एक-दूसरे को सहते हुए-
एक-दूसरे से बचते हुए पर एक-दूसरे से टकराते हुए-
ग़म पीते हुए और ग़म खाते हुए-
ज़िन्दगी के लिए तरसते कुछ मरे हुए नौजवानोंवाला लखनऊ।

नई शामे-अवध-
दस सेकेण्ड में समझाने-समझनेवाली किसी बात को
क़रीब दो घण्टे की बहस के बाद समझा-समझाया,

अपनी सरपट दौड़ती अक़्ल को
किसी बे-अक़्ल की समझ के छकड़े में जोतकर
ह़ज़रतगंज की सड़क पर दौड़ा-दौड़ाकर थकाया,
ख़्वाहिशों की जगह बहसों से काम चलाया,
और शामे-अवध को शामते-अवध की तरह बिताया।
बाज़ार-
जहां ज़रूरतों का दम घुटता है,
बाज़ार-
जहाँ भीड़ का एक युग चलता है,
सड़कें-
जिन पर जगह नहीं,
भागभाग-
जिसकी वजह नहीं,
महज एक बे-रौनक़ आना-जाना,
यह है-शहर का विसातखाना।

किसी मुर्दा शानोशौकत की क़ब्र-सा,
किसी बेवा के सब्र-सा,
जर्जर गुम्बदों के ऊपर
अवध की उदास शामों का शामियाना थामे,
किसी तवायफ की ग़ज़ल-सा
हर आनेवाला दिन किसी बीते हुए कल-सा,
कमान-कमर नवाब के झुके हुए
शरीफ आदाब-सा लखनऊ,
खण्डहरों में सिसकते किसी बेगम के शबाब-सा लखनऊ,
बारीक़ मलमल पर कढ़ी हुई बारीक़ियों की तरह
इस शहर की कमज़ोर नफ़ासत,
नवाबी ज़माने की ज़नानी अदाओं में
किसी मनचले को रिझाने के लिए
क़व्वालियां गाती हुई नज़ाक़त :

किसी मरीज़ की तरह नई ज़िन्दगी के लिए तरसता,
सरशार और मजाज़ का लखनऊ,
किसी शौकीन और हाय किसी बेनियाज़ का लखनऊ :

यही है क़िब्ला
हमारा और आपका लखनऊ।

ज़रूरतों के नाम पर

क्‍ योंकि मैं ग़लत को ग़लत साबित कर देता हूं
इसलिए हर बहस के बाद
ग़लतफ़हमियों के बीच
बिलकुल अकेला छोड़ दिया जाता हूं
वह सब कर दिखाने को
जो सब कह दिखाया
वे जो अपने से जीत नहीं पाते
सही बात का जीतना भी सह नहीं पाते
और उनकी असहिष्णुता के बीच
में किसी अपमानजनक नाते की तरह
बेमुरौव्वत तोड़ दिया जाता हूँ ।
प्रत्येक रोचक प्रसंग से हटाकर,
शिक्षाप्रद पुस्तकों की सुची की तरह
घरेलू उपन्यासों के अन्त में
लापरवाही से जोड़ दिया जाता हूँ ।

वे सब मिलकर
मेरी बहस की हत्‍ या कर डालते हैं

ज़रूरतों के नाम पर
और पूछते हैं कि ज़िन्दगी क्‍या है
ज़िन्दगी को बदनाम कर ।

लाउडस्पीकर

मुहल्‍ले के कुछ लोग लाउडस्‍पीकर पर
रात भर
कीर्तन-भजन करते रहे।
मुहल्‍ले के कुत्‍ते लड़ते-झगड़ते
रात भर
शांति-भंजन करते रहे।
मुझे ख़ुशी थी कि लोग भूंक नहीं रहे थे
(कीर्तन तो अच्‍छी चीज़ है)
और कुत्‍तों के सामने लाउडस्‍पीकर नहीं थे।
(गो कि भूंकना भी सच्‍ची चीज़ है।)

एक हरा जंगल

एक हरा जंगल धमनियों में जलता है।
तुम्हारे आँचल में आग...
चाहता हूँ झपटकर अलग कर दूँ तुम्हें
उन तमाम संदर्भों से जिनमें तुम बेचैन हो
और राख हो जाने से पहले ही
उस सारे दृश्य को बचाकर
किसी दूसरी दुनिया के अपने आविष्कार में शामिल
कर लूँ ।

लपटें
एक नए तट की शीतल सदाशयता को छूकर
लौट जाएँ।

डूबते देखा समय को

डूबते देखा समय को
जो अभी अभी सूर्य था

अपने में अस्त
मैं, शाम में इस तरह व्यस्त
कि जैसे वह हुई नहीं-मैंने की,
उसके व्यर्थ रंगों को
एक साहसिक योजना दी।

पहले भी आया हूँ

जैसे इन जगहों में पहले भी आया हूँ
बीता हूँ।
जैसे इन महलों में कोई आने को था
मन अपनी मनमानी खुशियां पाने को था।
लगता है
इन बनती-मिटती छायायों में तड़पा हूँ
किया है इंतज़ार

दी हैं सदियां गुज़ार
बार-बार
इन ख़ाली जगहों में भर-भर कर रीता हूँ
रह-रह पछताया हूँ
पहले भी आया हूँ
बीता हूँ।

रास्ते (फतेहपुर सीकरी)

वे लोग कहाँ जाने की जल्दी में थे
जो अपना सामान बीच रास्तों में रखकर भूल गए हैं?
नहीं, यह मत कहो कि इन्हीं रास्तों से
हज़ारों-हज़ारों फूल गए हैं...
वह आकस्मिक विदा (कदाचित व्यक्तिगत !)
जो शायद जाने की जल्दी में फिर आने की बात थी।

ये रास्ते, जो कभी ख़ास रास्ते थे,
अब आम रास्ते नहीं।
ये महल, जो बादशाहों के लिए थे
अब किसी के वास्ते नहीं।

आश्चर्य, कि उन बेताब ज़िन्दगियों में
सब्र की गुंजाइश थी...
और ऐसा सब्र कि अब ये पत्थर भी ऊब रहे हैं।

अनात्मा देह (फतेहपुर सीकरी)

इन परछाइयों के अलावा भी कोई साथ है।
सीढ़ियों पर चढ़ते हुए लगता है
कि वहाँ कोई है, जहाँ पहुँचूँगा।

मुडेरों के कन्धे हिलते हैं,
झरोखे झाँकते हैं,
दीवारें सुनती हैं,
मेहराबें जमुहाई लेती,
गुम्बद, ताज़ियों के गुम्बद की तरह
हवा में कांपते हैं।

तालाब के सेवार-वन में जल की परछाईयां चंचल हैं,
हरी काई के कालीन पर एक अनात्मा देह लेटी है
और मीनारें चाहती हैं
कि लुढ़ककर उसके उरोजों को चूम लें।

तीन

दिल्ली की तरफ़

जिधर घुड़सवारों का रुख हो
उसी ओर घिसटकर जाते हुए
मैंने उसे कई बार पहले भी देखा है।

दोनों हाथ बंधे, मज़बूरी में, फिर एक बार
कौन था वह? कह नहीं सकता
क्योंकि केवल दो बंधे हुए हाथ ही
दिल्ली पहुँचे थे।

इब्नेबतूता

माबर के जंगलों में
सोचता इब्नेबतूता-पैने बांसों की सूलियों में बिंधे
कौन हैं ये जिनके शरीर से रक्त चूता?

दिन में भी इतना अंधेरा
या सुल्तान अन्धा है
जिसकी अन् धी आँखों से मैं देख रहा हूँ
मशाल की फीकी रोशनी में छटपटाता
तवारीख का एक पन् ना?-
इस बर्बर समारोह में
कौन हैं ये अधमरे बच्चे, औरतें जिनके बेदम शरीरों से

हाथ पाँव एक एक कर अलग किए जा रहे हैं?
काफ़िर? या मनुष्य? कौन हैं ये
मेरे इर्द गिर्द जो
शरियत के खिलाफ़
शराब पिए जा रहे हैं?

कोई नहीं। कुछ नहीं। यह सब
एक गन्दा ख्वाब है
यह सब आज का नहीं
आज से बहुत पहले का इतिहास है
आदिम दरिन्दों का
जिसका मैं साक्षी नहीं...। सुल्तान,
मुझे इजाज़त दो,
मेरी नमाज़ का वक़्त है।

लापता का हुलिया

रंग गेहुआं ढंग खेतिहर
उसके माथे पर चोट का निशान
कद पांच फुट से कम नहीं
ऐसी बात करता कि उसे कोई ग़म नहीं।
तुतलाता है।
उम्र पूछो तो हज़ारों साल से कुछ ज्यादा बतलाता है।
देखने में पागल-सा लगता-- है नहीं।
कई बार ऊंचाइयों से गिर कर टूट चुका है

इसलिए देखने पर जुड़ा हुआ लगेगा
हिन्दुस्तान के नक़्शे की तरह।

काफ़ी बाद

हमेशा की तरह इस बार भी
पुलिस पहुँच गई थी घटनास्थल पर
घटना के काफ़ी बाद
ताकि इतिहास को सही-सही लिखा जा सके
चश्मदीद गवाहों के बयानों के मुताबिक ।
एक पूरी तरह जल चुकी चिता
और पूरी तरह जल चुकी लाशों के सिवाय
अब वहाँ कोई न था गवाह
जिसने अपनी आँखों से देखा हो
उन बूढ़े, जवान, बच्चों को जिन्होंने उत्साह से चिता
बनाई थी
उन लोगों को जिन्होंने मिलकर चिता में आग
लगाई थी
और उन हत्यारों को जिन्होंने कुछ बेबस इनसानों को
लपटों में झोंक झोंक कर होली मनाई थी...

यह सब कहाँ हुआ? इसी देश में।
यह सब क्यों होता है किसी देश में?-

बेल्सेन में-ब्याफ्रा में-बेलची में-वियतनाम में-
बांगला देश में-

सन्नाटा या शोर

कितना अजीब है
अपने ही सिरहाने बैठकर
अपने को गहरी नींद में सोते हुए देखना।
यह रोशनी नहीं
मेरा घर जल रहा है।
मेरे ज़ख्मी पाँवों को एक लम्बा रास्ता
निगल रहा है।
मेरी आँखें नावों की तरह
एक अंधेरे महासागर को पार कर रही हैं।

यह पत्थर नहीं
मेरी चकनाचूर शक्ल का एक टुकड़ा है।
मेरे धड़ का पदस्थल
उसके नीचे गड़ा है।
मेरा मुहं एक बन्द तहखाना है। मेरे अन्दर
शब्दों का एक गुम खज़ाना है। बाहर
एक भारी पत्थर के नीचे दबे पड़े
किसी वैतालिक अक्लदान में चाभियों की तरह
मेरी कटी उँगलियों के टुकड़े।

क्या मैं अपना मुँह खोल पा रहा हूँ?
क्या मैं कुछ भी बोल पा रहा हूँ?

लगातार सायं...सायं...मुझमें यह
सन्नाटा गूंजता है कि शोर?
इन आहटों और घबराहटों के पीछे
कोई हमदर्द है कि चोर?
लगता है मेरे कानों के बीच एक पाताल है

जिसमें मैं लगातार गिरता चला जा रहा हूँ।

मेरी बाईं तरफ़
क्या मेरा बायां हाथ है?
मेरा दाहिना हाथ
क्या मेरे ही साथ है?
या मेरे हाथों के बल्लों से
मेरे ही सिर को
गेंद की तरह खेला जा रहा है?

मैं जो कुछ भी कर पा रहा हूँ
वह विष्टा है या विचार?
मैं दो पांवों पर खड़ा हूं या चार?
क्या मैं खुशबू और बदबू में फ़र्क कर पा रहा हूँ?
क्या वह सबसे ऊँची नाक मेरी ही है
जिसकी सीध में
मैं सीधा चला जा रहा हूँ?

वह कभी नहीं सोया

वह जगह
जहाँ से मेरे मन में यह द्विविधा आई
कि अब यह खोज हमें आगे नहीं बढ़ा पा रही
मेरे घर के बिल्कुल पास ही थी।

वह घाटी नहीं तलहटी थी
जिसे हमने खोद निकाला था-
और जिसे खोद निकालने की धुन में

हम सैक़ड़ों साल पीछे गड़ते चले जा रहे थे
इतनी दूर और इतने गहरे
कि अब हमारी खोज में हमें ही खोज पाना मुश्किल था।

शायद वहीं एक सभ्यता का अतीत हमसे विदा हुआ था
जहाँ साँस लेने में पहली बार मुझे
दिक़्क़त महसूस हुई थी
और मैं बेतहाशा भागा था
उस ज़रा-से दिखते आसमान, वर्तमान और खुली हवा की ओर
जो धीरे-धीरे मुँदते चले जा रहे थे।

एक खोज कहाँ से शुरू होती और कहाँ समाप्त
इतना जान लेने के बाद क्या है और क् या नहीं
यहीं से शुरू होती आदमी की खोज,
उसकी रोज़मर्रा कोशिश
कि वह कैसे ज़िन्दा रहे उन तमाम लड़ाईयों के बीच
जो उसकी नहीं-जो उसके लिए भी नहीं-जिनमें
वह न योद्धा कहलाए न कायर,
केवल अपना फ़र्ज अदा करता चला जाए
ईमानदारी से
और फिर भी अपने ही घर की दीवारों में वह
ज़िन्दा न चुनवा दिया जाए।

वह अचानक ही मिल गया।
कुछ निजी कारणों से उसने
अपना नाम नहीं केवल नम्बर बताया।
इतिहास देखकर जब वह वर्षों ऊब गया
उसने अपने लिए क़ब्रनुमा एक कमरा बनाया
और एक बहुत भारी पत्थर को ओढ़कर सो गया।

वह फिर कभी नहीं जागा, यद्यपि उसे देखकर लगता था
कि वह कभी नहीं सोया था। उस ठण्डी सीली जगह में
उसकी अपलक आँखों का अमानुषिक दबाव, उसकी आकृति,
उसकी व्यवहारहीन भाषा-कुछ सकेत भर शेष थे
कि वह पत्थर नहीं आदमी था
और हज़ारों साल से आदमी की तरह
ज़िन्दा रहने की कोशिश कर रहा था।

उस टीले तक

जेबों में कुछ पुराने सिक्के,
हाथों में लगाम,
लगंड़ाते टट्टुयों पर सवार,
ऊबड़ खाबड़ सफ़र तय करते
हमने जिस टीले पर पहुँचकर पड़ाव किया
कहते हैं वहीं से सिकन्दर ने अपने घर वापस
लौटने की कोशिश की थी!

'घर'-मैंने इस शब्द की व्याकुल गूँज को
अक्सर ऐसी जगहों पर सुना है
जो कभी किसी विजेता के जीतों की अंतिम हद रही है।

लेकिन हम वहाँ बिल्कुल उल्टे रास्ते से पहुँचे थे
और बिल्कुल अकस्मात्। यानी कोई इरादा न था
कि हम वहीं खड़े होकर, भूखे प्यासे बच्चों से घिरे,
उस उजाड़ जगह का मुआयना करते हुए

सिकन्दर के भूत वा भविष्य के बारे में अनुमान लगाते।
"नहीं, हम अब और आगे नहीं जा सकते,
हम बेहद थक चुके हैं, हम घर पहुँचना चाहते हैं"
उन सबने मिलकर
लगभग बग़ावत कर दी थी। अगर मैं सिकन्दर होता
तो मुमकिन है उस रात उन तेरहों का खून कर देता
जो पीछे लौटनेवालों के अगुवा थे। हमने
वह सीमा क़रीब क़रीब ढूंढ ही निकाली थी
जहाँ तक सिकन्दर पहुँचा था।